जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत

ईश्वर दयाल

प्रास्ताविक

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-परम्पराओं में विभेद का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—निर्वाण। पाश्चात्य धार्मिक-दार्शनिक परम्परा स्वर्ग पर आकर रुक जाती है चाहे उसे यूनानियों का एलीजियम कहें, ईसाइयों का पैराडाइज या यहूदियों और मुस्लिम परम्पराओं का मधु और दुग्ध से भरा प्रदेश। भारतीय दर्शन यह मानता है कि दुःख से एकांतिक मुक्ति और सुख की एकांतिक उपलब्धि मात्र कल्पना है। सुख और दुःख का अपरिहार्य सम्बन्ध है। अगर दुःखों के पार जाना है तो सुख के पार भी जाना होगा। सुखों के पार जाना है तो कामनाओं के पार भी जाना होगा। निष्कामता और वीतरागता ही मार्ग है उनका जो महावीर के शब्दों में "पारं गमा" है—पार चले गये हैं, "तीरं गमा" है—किनारे पहुँच चुके हैं, "ओघं तरा" है—समुद्र को पार कर चुके हैं। वह "पार" क्या है? वह लक्ष्य क्या जिसे केन्द्र बनाकर भारतीय दर्शन-परम्पराओं की सारी साधनाएँ चल रही हैं?

निर्वाण

जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में निव्वाण या निब्बाण शब्द अनेकशः आया है और आत्म-साधना के परम लक्ष्य के रूप में उस पर गहरा विवेचन भी उपलब्ध है। उसी अर्थ में वैदिक परम्परा में भी "निर्वाण" का प्रयोग मिलता है। गीता में "ब्रह्मनिर्वाण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में भी बार-बार इस शब्द का प्रयोग आया है। इसका अर्थ आत्म-साक्षात्कार तथा ब्रह्मलीनता है[1]।

व्युत्पत्ति

अभिधम्म महाविभाषा में "निर्वाण" शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां प्रज्ञप्त हैं, यथा :

* वाण का अर्थ है "पुनर्जन्म का रास्ता"। "निर" अर्थात् "छोड़ना"। अतः निर्वाण का अर्थ हुआ "स्थायी रूप से पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ना"।

* "वाण" का अर्थ है दुर्गन्ध"। 'निर' अर्थात् नहीं। इस सन्दर्भ में निर्वाण का अर्थ है "वह स्थिति जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से सर्वथा मुक्त है"।

* "वाण का अर्थ है "घना जंगल"। निर अर्थात् इससे छुटकारा पाना। अतः "निर्वाण" का अर्थ हुआ "एक ऐसी स्थिति जिसमें स्कन्धों, तीन प्रकार की अग्नि (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) के घने जंगल से छुटकारा पा लिया गया हो"।

---

१ भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : डा० अशोक कुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ० ६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* "वाण" का अर्थ है "बुनना"। निर अर्थात् नहीं। अतः निर्वाण सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्म रूपी धागे से, जो जन्म मरण का ताना-बाना बुनते हैं, पूर्णतः मुक्ति है[१]।"

कुल मिलाकर बौद्धों की निर्वाण परिकल्पना एक नकारात्मक स्थिति की व्यंजक है, विनाश मूलक है यद्यपि इसका अर्थ लाक्षणिक ही प्रतीत होता है, अभिधात्मक नहीं। राइस डेविड्स के शब्दों में "निर्वाण पापशून्य मन की शान्त स्थिति है और उसे हम श्रेष्ठ रूप से दिव्य ज्योति, अन्तर्दृष्टि, सत्य और मुक्तिदाता, पराज्ञान, सुख, शान्ति, शीतलता, सन्तोष, शुभ, सुरक्षा, स्वातन्त्र्य, स्वशासन, सर्वोच्च सुअवसर, पवित्रता, पूर्ण शान्ति, शुभत्व और प्रज्ञा आदि शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं[२]। सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् के अनुसार बुद्ध का आशय केवल मिथ्या इच्छा का विनाश करना था, जीवन मात्र का विनाश करना नहीं। काम-वासना, घृणा एवं अज्ञान के नाश का नाम ही निर्वाण है[३]।

निर्वाण : जैन व्याख्या

जैन परम्परा में निर्वाण की विनाश मूलक व्याख्या भी मिलती है। भगवतीआराधना में निर्वाण का अर्थ है विनाश—जैसे दीपक का बुझ जाना। लेकिन लाक्षणिक सन्दर्भ में ही यह बात लागू होती है अर्थात् कर्मों का सम्पूर्ण विनाश। "निर्वाणं विनाशः तथा प्रयोगः प्रदीपो नष्ट इति यावत् विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्वातकर्मशात्[४]"। अभिधानचिन्तामणिकोश में भी निर्वाण का इसी प्रकार अर्थ दिया गया है—"निर्वातस्तु गतेवाते निर्वाणः पावकादिषुः[५]" अमरकोष में भी इसकी व्याख्या बुझ जाने के अर्थ में ही मिलती है[६]। बौद्धों के ही समानान्तर जैन-परम्परा ने इसका अर्थ कर्म-वाणों से मुक्त होने के रूप में भी की है[७]।

जैन परम्परा के अनुसार भी निर्वाण कर्मों का, उनसे सम्भूत दुःखों का, जन्म-जन्मान्तर की परम्परा का ही उच्छेद है, जीव-सत्ता का नहीं। निर्वाण के "अभिधानचिन्तामणि" में प्रस्तुत पर्यायवाची शब्द इसी सत्य के संसूचक हैं :

महानन्दोऽमृतं सिद्धि कैवल्यमपुनर्भवः
शिवं निःश्रेयसं श्रेयो निर्वाणं ब्रह्म निर्वृतिः ॥
महोदय सर्वदुःखक्षयो निर्याणमक्षरम्
मुक्ति मोक्षोऽपवर्गऽथ....................[८] ॥

---

१. Systems of Buddhistic Thoughts : Sogeu—Page 34-42।
२. A History of Indian Philosophy : J. N. Sinha Vol. II P. 330।
३. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग—२, पृ० ४११-१२।
४. भगवतीआराधना ११।५३।२०।
५. अ० चि० ६।१४८४।
६. भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिन्तन—डा० अशोक कुमार लाड, पृ० ६४।
७. तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री, पृ० १०४।
८. अभिधानचिन्तामणि, काण्ड—१, श्लोक—७४-७५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष और निर्वाण : जैन परम्परा के सन्दर्भ में

जैन दर्शन के नव तत्त्वों में मोक्ष शब्द का ही प्रयोग मिलता है। समयसार के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है : जीवाजीवा य पुण्णपावं य आसव संवर णिज्जर बन्धो मोक्खो[1] आचार्य शुभचन्द्र ने पाप-पुण्य को छोड़कर सात तत्त्वों की गणना इस प्रकार की है :

जीवाजीवास्रवाबन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः॥ ३॥

तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का अर्थ है, "बन्ध के हेतुभूत कर्मों की निर्जरा होने पर उनका हेतु रूप में अभाव" अर्थात् उनसे मुक्ति—'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्न कर्मधिप्रमोक्षो मोक्षः[2]। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कर्मों के निराकृत होने पर उनके कलुष से निर्मल आत्मा की ज्ञानादि गुण तथा अव्यापाद्य की अवस्था को मोक्ष कहा है—निरविशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्थात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्यावाद्यसुखमात्यंतिकमवस्थान्तरं[3]। न्यायवार्तिक में भी मोक्ष को आत्यन्तिक दुःख भाव कहा है अर्थात्, दुःखों से मूलतः मुक्ति[4]। तर्कदीपिका में भी इसे "परम दुःखध्वंसः" अर्थात् दुःख का अन्तिम रूप से मिटाना कहा गया है[5]। न्यायसूत्र में "आत्यन्तिक दुःखनिवृति" अर्थात् मूल दुःख से निवृत्ति बताया गया है[6]।

निर्वाण और मोक्ष शब्द परस्पर पर्यायवाची सन्दर्भों में प्रयुक्त किये गये हैं। निर्वाणवादी जैन परम्परा के सात या नौ तत्त्वों में निर्वाण का न होना तथा उसके स्थान पर मोक्ष का होना यही सूचित करता है।

नव तत्त्व और आत्मा

उत्तराध्ययनसूत्र में नौ तत्त्वों की विवेचना मिलती है :

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संते ए तहिया नव[7]॥

आस्रव की ही दो परिणतियाँ पाप और पुण्य हैं, अतः कुल मिलाकर सात ही तत्त्व बचते हैं। इसी कारण आचार्य शुभचन्द्र ने सात ही तत्त्व प्रतिपादित किये हैं। इनमें भी बन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा, आस्रव आदि जीव और अजीव की ही स्थितियाँ मात्र हैं। अतः कुल मिलाकर तत्त्व दो ही ठहरते हैं—धर्मी व धर्म अर्थात् जीव और अजीव। श्लोकवार्तिक के अनुसार :

---

१. समयसार, पृ० १४-१५ गा० १५।
२. तत्त्वार्थसूत्र, १०।२।
३. तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री, पृ० ८०।
४. भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिन्तन : डा० अशोक कुमार लाड, पृ० ११७।
५. वही पृ० ११७।
६. न्यायसूत्र १।१।२ (वात्स्यायन भाष्य)।
७. उत्तराध्ययनसूत्र २८।१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वा शुभादय इति।
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तम्[१] ॥

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क में यही प्ररूपणा की है[२]। आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे जाकर कहते हैं :

अतः शुद्धनयाग्रत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्च कारित तत्।
नव तत्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति[३] ॥

निश्चय दृष्टि से देखने पर तो एकमात्र आत्म ज्योति ही जगमगाती है, जो इन नव तत्त्वों में धर्मीरूपेण अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जीव द्रव्य : मूल स्थिति

जैन दर्शन छः द्रव्यों की सत्ता प्ररूपित करता है—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल[४]। जीव द्रव्य-दृष्टि से एक है, पर्यायों की दृष्टि से अनेक है। यह उपयोग लक्षणात्मक है अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय। तीनों कालों में ज्ञान-दर्शन के सतत परिवर्तन होने की दृष्टि से यह अनेक है। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले प्रदेशों की दृष्टि से यह अक्षय है, अव्यय एवं अवस्थित है। भगवतीसूत्र में भगवान् ने इन्हीं सब अपेक्षाओं से अपने को एक, दो, अनेक, अक्षय और अव्यय बताया है।

"सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाण दंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं उवयोगट्ठाए अणेग भूयभाव भविए वि अहं[५]"। जीव अनन्त है। गुणात्मक दृष्टि से सब समान हैं। अनुभव, इच्छा-शक्ति और भाव उसके गुण हैं। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। मूलतः जीव अशरीरी है। अरूप, अवेद, अलेश्य एवं अकर्म है। भगवतीसूत्र में भगवान् ने कहा है—"गोयमा अहं एयं जाणाति जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अवेदस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एयं पन्नायति तं जहा कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा"[६]।

बन्ध मोक्ष की प्रक्रिया

बन्ध अनादि काल से है। जीव शाश्वत रूप से बद्ध और मुक्त दोनों स्थितियों में अनन्त संख्यात्मक है। बन्ध कर्मों का होता है। कर्म पाप और पुण्य दो प्रकार के होते हैं। बन्ध का कारण आस्रव है जो मन-वचन-काय की क्रिया है, जो भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनों प्रकार की होती है। संवर है आस्रव का रुक जाना, निर्जरा है तप द्वारा कृत कर्मों का क्षय तथा मोक्ष है इसकी निष्पत्ति। बन्ध से मोक्ष तक आत्मा की एक निरन्तर गति है, जिसका पर्यवसान मोक्ष में होता है—मोक्ष परिणति है और निर्वाण है स्थिति। एक पतली सी यही भेद रेखा यहां दृष्टिगोचर होती है—मोक्ष और निर्वाण में।

---

१. श्लोकवार्तिक २।१।४।
२. सन्मतितर्क, १।४६।
३. समयसार कलश० ७।
४. आचार्य शुभचन्द्र, द्रष्टव्य तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री पृ० ८२।
५. भगवतीसूत्र १।८।१०।
६. उपरिवत् १७।२।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

निर्वाणस्थ आत्मा की स्थिति

कैवल्य भाव मोक्ष है। चार घातीय कर्मों का यहाँ विनाश हो जाता है। शेष चार कर्मों की निर्जरा होने पर द्रव्य-मोक्ष होता है। द्रव्य-मोक्ष की स्थिति के बारे में जैन-धर्म की विभिन्न परम्पराओं में प्रमुखतया निम्नलिखित बातें मिलती हैं :

* पुद्गल द्रव्य के निकल जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाती है।

* इससे खाली प्रदेशों को आत्म द्रव्य से भरने के बाद उसका आकार शरीर का दो तिहाई रह जाता है।

* वह ऊपर उठती है और लोकाग्र पर जाकर सिद्धशिला पर टिक जाती है।

* उसकी अलोकाकाश में गति नहीं होती क्योंकि वहाँ धर्म-द्रव्य की सत्ता नहीं होती।

* सिद्धों में परस्पर अवगाहना होती है—एक सिद्ध होता है वहाँ एक-दूसरे में प्रवेश पाकर अनन्त सिद्धात्माएँ स्थित हो जाती हैं।

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खय विमुक्का।
अन्नोन्न समोगाढा पुट्ठा सब्बे वि लोगंते[1]॥

* जैसे दग्ध बीजों से फिर अंकुर पैदा नहीं होते वैसे ही मुक्त जीव फिर जन्म-धारण नहीं करते।

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुण अंकुरा।
कम्म बीयेसु दड्ढेसु न जायंति भवांकुरा[2]॥

* सिद्धात्माएँ अद्वितीय सुखमय होती हैं। चक्रवर्ती, भोगभूमि या मनुष्य धरणेन्द्र, देवेन्द्र व अहमिन्द्र—इन सब का सुख पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अनन्त-अनन्त गुणा माना गया है। इन सब के त्रिकालवर्ती सुख को भी यदि एकत्रित कर लिया जाये, तो भी सिद्धों का एक क्षण का सुख उन सबसे अनन्त गुणा है।

चक्कि कुरु फणि सुरिंद देवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
ततो अणंत गुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि[3]॥

कर्म : भाव ही नहीं, द्रव्य भी

जैन परम्परा के अनुसार कर्म मात्र मनोगत भाव नहीं होते, द्रव्य होते हैं और आस्रव द्वारा जीव के प्रदेशों में व्याप्त होकर उसे वस्तुतः लिप्त करते हैं। डा० नथमल टाटिया के अनुसार : "कर्म केवल आत्मनिष्ठ ही नहीं हैं, जैसा कि बौद्ध दार्शनिक सोचते हैं, वे वस्तुनिष्ठ भी हैं। कर्म का यह सम्प्रत्ययन कि वह केवल भाव ही नहीं बल्कि द्रव्य भी है, जैन दार्शनिकों की अपनी विशेषता है[4]"।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, ३।७६।

२. दशाश्रुतस्कन्ध (भद्रबाहु प्रथम), ५।१५।

३. त्रिलोकसार (आचार्य नेमीचन्द्र), ५६०।

४. Studies in Jain Philosophy—Page xix.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री को मोक्ष नहीं मिलती क्योंकि सावरण होने के कारण वह अचेल नहीं हो सकती[1] तथा सचेल चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता[2]। ये दोनों ही बातें आचार्य कुन्दकुन्द ने कही है लेकिन जहाँ प्रथम प्रक्षेपक होने के कारण उतनी गंभीरता से नहीं लिया जा सकता वहीं दूसरी इतनी निर्णयात्मक है कि उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने ही समयसार में निश्चय नय से जहाँ अपने विचार रखे हैं, वहाँ वस्त्र ही नहीं, सम्पूर्ण उपकरणों और भोगों के सेवन तक को द्रव्य के स्तर पर निर्णायक मान्यता नहीं दी है। उन्होंने कहा है जैसे अरतिभाव मद्यपान करता हुआ भी कोई नशे में नहीं होता वैसे अरति भाव से द्रव्यों के भोग से भी ज्ञानी बद्ध नहीं होता[3]। जैसे गारुड़ी विद्या के ज्ञाता पुरुष विष को खाते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होते वैसे ही ज्ञानी द्रव्य-कर्मों को भोगते हुए भी उनसे बद्ध नहीं होते[4]। कोई सेवन करते हुए भी नहीं करता है और कोई सेवन नहीं करते हुए भी करता है[5]।

यही भूमिका इस संदर्भ में श्वेताम्बर आगमों की है कि भाव से वस्त्रादि उपकरणों द्वारा लिप्त नहीं होने के कारण द्रव्य के स्तर पर इनका सेवन बन्ध का हेतु नहीं रह सकता—संयम-साधना व लज्जा की रक्षा के लिए ही इनका उपयोग होता है।

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति या॥ दशवैकालिक ६।२०

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, जो भगवान् ने निर्वाण के पूर्व प्रज्ञप्त किया, सिद्ध स्त्री भी हो सकती है, पुरुष भी, नपुंसक भी, जिन मार्गानुयायी भी, आजीवक आदि अन्य मार्गानुयायी भी, गृहस्थ भी।

इत्थी पुरिस सिद्धा य तहव य णवुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य॥ उत्तराध्ययन ३६।२४८

आत्मा का अपनी मूल स्थिति को प्राप्त होना निर्वाण है और उसमें वह न स्त्री है, न पुरुष, न अन्य कुछ—ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा[6]। यही अवधारणा भगवान् महावीर की भावना तथा व्यापक दृष्टि के अनुरूप भी है।

---

१. प्रवचनसार २२५ की प्रक्षेपक गाथा ७।

२. सूत्रपाहुड—३२।

३. जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावे ण मज्जदे पुरिसो।
दव्वु व भोगे अरदो णाण वि ण वज्झदि तहेव॥ समयसार—२०५।

४. जह विसमुवभुज्जंता विज्जा पुरिसा ण मरणमुवयंति।
पोग्गल कम्म सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झदे णाणी॥ समयसार—२०४।

५. सेवंतो वि ण सेवंति असेवमाणो वि सेवतो कोवि।
पगरण चेट्ठा कस्सवि णय पायर णोत्ति सो होदि॥ समयसार—२०६।

६. आचारांग—५।५।१३४ (आचार्य तुलसी की वाचना)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की माप-जोख

पारम्परिक जैन मान्यता यह है कि निर्वाण के समय आत्मा पूर्व शरीर के ही दो तिहाई आकार में होती है। क्योंकि कर्म-परमाणुओं के निकल जाने पर खाली हुए प्रदेशों को भर कर आत्म-परमाणु घनीभूत हो जाते हैं। इसका कारण परम्परा यह मानती है कि शैलेषी अवस्था के साथ ही सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं और कर्म के अभाव में आत्मा की कोई गति संभव नहीं। लेकिन यह मान्यता निम्न दृष्टियों से देखने पर कुछ प्रश्नों को जन्म देती है।

* जैन परम्परा मानती है कि आत्मा के प्रदेश का विस्तार सारे लोक तक हो सकता है। केवलि समुद्घात के समय सारे लोक में आत्म-प्रदेश फैल कर व्याप्त हो जाते हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि निर्वाण के पूर्व केवलि समुद्घात होता है। फिर आत्मा के सारे प्रदेश पुनः संकुचित होकर शरीर का दो तिहाई विस्तार ग्रहण कर लेते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मा स्वभाव से लोकव्यापी है।

* अगर कर्म शेष होने के कारण आत्मा अपना मूल लोकव्यापी विस्तार नहीं पा सकती तो कर्म के अभाव में वह संकोच की प्रक्रिया भी कैसे सम्पन्न कर सकती है ?

* अगर कर्म-द्रव्य के अभाव से शून्य प्रदेशों को भरने के लिए उसका संकुचित होना आवश्यक है तो कर्मावरणों के क्षीण होकर समाप्त हो जाने पर उसका फैल कर अपना असीम आयाम ग्रहण कर लेना भी आवश्यक होना चाहिए।

* क्या आत्मा का सघनतम आयाम मानव-शरीर का दो तिहाई ही है अपनी मूल स्थिति में संकुचित और घनीभूत होते समय अगर मानव-शरीर का दो तिहाई ही उसकी संकोच सीमा है और उससे अधिक उसका संकोच संभव ही नहीं तो निगोदिया जीव, जिसकी अवगाहना सबसे कम होती है, में वह कैसे रह पाती है ? अगर संकुचित होकर आत्मा अपनी मूल द्रव्यात्मक सत्ता ही पाना चाहे तो वह निगोदिया जीव से भी छोटी होनी चाहिए क्योंकि उसमें आत्मा तथा द्रव्य-पुद्गल दोनों होते हैं और वह मानवीय आत्मा के समान ही अपनी मूल सत्ता में होती है।

* अगर कर्म से ही सारी गति होती है, तो कर्म-मुक्ति की गति-शून्य अवस्था एक भयंकर बन्धन हो गई क्योंकि मरण-काल की स्थिति में ही उसे अनन्त काल तक सिद्धशिला पर रहना होगा।

* अगर आत्मा में खाली प्रदेश हो ही नहीं सकते और अजीव-द्रव्य के निकलते ही उसे उन्हें भर कर घनीभूत होना ही पड़ता है तो सिद्धों की आत्माओं की परस्पर अवगाहना कैसे संभव होती है ?

* शरीर से मुक्त होने का अर्थ है रूप से मुक्त होना—आकार से मुक्त होना क्योंकि रूप की परिधि मात्र ही आकार है। अरूप निराकार होगा, निराकार निःसीम होगा क्योंकि आकार सीमा ही है। और निःसीम दो नहीं हो सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में वे दोनों एक दूसरे की सीमा को ससीम कर अपनी निःसीम सत्ता ही समाप्त कर डालेंगे। अतः आत्मा की सत्ता पर अनेकात्मकता ठहर नहीं पाती।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

* गुण शरीर के साथ जुड़े हैं। शरीर मुक्त गुणातीत होगा और संख्या स्वयं एक गुण है अतः उसके भी पार ही होगा। उसे अनन्त कहें या एक—संख्या की दृष्टि से इन सब अभिधाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

* पार्थक्य का आधार है व्यक्तिगत भिन्नताएँ, जो शरीर और मन के पार अपनी कोई सत्ता नहीं रखती—शेष रहती है निर्गुणात्मक सत्ता जो अभेद है, अतः अभिन्न भी है और अभिन्न है अतः एक भी है।

यही है निर्वाण की परम अद्वैत स्थिति जो वेदान्त परम्परा का ब्रह्म है, सूफियों का शून्य, बुद्ध का लोकव्यापी धर्म धातुकाय, लाओ-त्जे का ताओ, कनफ्यूशियस की हार्मनी। आचारांगसूत्र जिसे हर्मन जैकोबी ने महावीर की प्रामाणिक वाणी का स्रोत माना है, में भगवान् ने निर्वाणस्थ आत्मा का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें सिद्धशिला, अवगाहना एवं आकारमय असंख्य जीवों, ऊर्ध्वगमन आदि बातों का कोई सन्दर्भ नहीं है। वस्तुतः सिद्धशिला आत्मा की परम शुद्ध एवं सर्वोच्च पवित्रता की स्थिति तथा लोक की अग्रसत्ता के रूप में उसकी गरिमा की प्रतीक है। ऊर्ध्वगमन भावना के स्तर पर आत्मा के विकास, आत्मा-साधना की आरोहणमयी स्थिति की प्रतीक है। इन्हें परवर्ती परम्परा ने अभिधात्मक अर्थ में लेकर एकदम अनर्थ की सृष्टि कर डाली है। भगवान् ने निर्वाण की स्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह परम प्रेरणादायी है :

सव्वे सरा णियट्टन्ति
तक्का जत्थ ण विज्जइ
मइ तत्थ ण गहिया
ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने

"सारे स्वर लौट आते हैं वहाँ से
तर्क की सत्ता नहीं रहती जहाँ
ग्रहण ही नहीं कर पाती जिसे बुद्धि
वह निराधार निःसीम ज्ञाता तत्त्व।'

से ण दीहे, ण हस्से
ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले

"वह न बड़ा है न छोटा आकार में
न गोल, न त्रिकोण, न चतुष्कोण; न परिमंडल
(कोई माप नहीं जिसका, न कोई आकार)

ण किण्हे ण णीले लोहिए ण हालिद्दे ण सुक्किल्ले
ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे।

"वह न काला है न नीला, न लाल, न नारंगी, न सफेद
न सुगन्धित है, न दुर्गन्धित।"

ण तित्ते ण कडुए ण कसाए णअंबिले ण महुरे
ण कक्खडे ण मउए ण गरूए ण लहुए
ण सीए ण उण्हे ण णिद्धे ण लुक्खे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वह न तिक्त है न कटुक न कसैला, न खट्टा, न मीठा
न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का
न स्निग्ध न रूखा"।

ण काऊ	"कोई शरीर नहीं है जिसका"
ण रुहे	"कभी जन्म नहीं होगा जिसका"
ण संगे	"स्पर्श नहीं कर सकता जिसको कोई"
ण इत्थी ण पुरिसे, ण अन्नहा	"वह न स्त्री है, न पुरुष, अन्य कुछ भी नहीं"
परिण्णे सण्णे	"वह ज्ञाता है, चेतन है"
उवमा ण विज्जए	"कोई उपमा नहीं है उसकी"
अरूवी सत्ता	"अरूपी सत्ता है"
अपयस्स पयं णत्थि	"उस निर्विशेष की कोई विशेषता नहीं कही जा सकती"

यह है निर्वाण की परम स्थिति जो गुणातीत है, शब्दातीत है, अद्वैत है। द्वैत रूप गुणात्मक होते हैं। शरीर के पार, मन के पार रूप-गुणों की सत्ता नहीं रहती। अतः द्वैत की सत्ता भी नहीं रहती। उसे शून्य कहें या सर्व, दोनों मात्र दो शब्द हैं। महाप्राण निराला ने लिखा है—"शून्य को ही सब कुछ कहें या कुछ भी नहीं, दोनों एक ही चीज है" (शून्य और शक्ति) लोक-अलोक की सारी सीमाएँ उस ज्ञाता की परम सत्ता के समक्ष अदृश्य हो जाती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है :

आदा णाण पमाणं णाणं णेय प्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

ज्ञाता ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, तथा ज्ञेय है लोकालोक प्रमाण। अतः सर्वगत है ज्ञान, सर्वगत है ज्ञाता-आत्मा अपनी शुद्ध-बुद्ध सत्ता में। महावीर के शब्दों में आत्मा एक है—एगे आया। इस एक को जो जानता है वह सब को जानता है—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। यही वेदान्त, बौद्ध, ताओ, कनफ्यूसियस, ईसाई, जरथुस्त्र—दर्शन का मन्तव्य है। भेद हैं तो शब्दों के, जो देशकाल व परम्परा-सापेक्ष होते हैं। लेकिन अभेद है सत्य, एक है सत्य, भगवान् है सत्य—सच्चं भगवं।

●

सर्वोदय महाविद्यालय
पत्रा०-गंध भड़सरा
रोहतास, विहार—८०२२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org